

व्यवहारात्मक जनवाद अध्याय - १

प्राक्कथन

व्यवहारात्मक जनवाद नाम से यह प्रबंध मानव के कर कमलो में अर्पित करते हुए परम प्रसन्नता का अनुभव करता हूँ । जनवाद का तात्पर्य मानव मानव से बातचीत करता ही है, संवाद करता ही है, वाद-विवाद करता ही है यह सबको पता है । यह सब यथावत रहेगा ही, तमाम प्रकार से होने वाली बातचीत का लक्ष्य दिशा को स्वीकृति पूर्वक, स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करने के क्रम में मानव का उपकार होने की आशा समायी है । उपकार का तात्पर्य मानव लक्ष्य के अर्थ में, दिशा निश्चित होने से है । इसे लोकव्यापीकरण करने के उद्देश्य से यह पुस्तिका प्रस्तुत है ।

हम मानव सदा से ही सुखी होना चाहते हैं । यह सबको कैसे उपलब्ध हो सकता है ? सोचने, समझने, स्वीकार करने अथवा मान लेने के आधार पर दो प्रकार के प्रयोग हो चुके हैं । पहला भक्ति विरक्ति से सुखी होने का प्रयास और प्रयोग लाखों आदमियों से सम्पन्न हुआ । दूसरी विधि सुविधा-संग्रह से सुखी होने के लिए अथक प्रयास करोड़ों मानव अथवा सर्वाधिक मानवों ने किया । इन दोनों विधियों से सर्वमानव का सुखी होना प्रमाणित नहीं हुआ । इसी रिक्ततावश इसकी भरपाई के लिए किसी विधि की आवश्यकता बन चुकी थी । इसी घटनावश उत्पन्न समाधान के लिए सह-अस्तित्ववादी नजरिया से ज्ञान, कर्माभ्यास और अनुभवमूलक विधि से अनुभवगामी पद्धति सहित प्रस्तुत हुए । मध्यस्थ दर्शन सह-अस्तित्ववाद के अंगभूत यह व्यवहारात्मक जनवाद प्रस्तुत है ।

जनवाद के मूल में आशा यही है, मानव अपने अधिकारों, दायित्वों, कर्तव्यों को समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व रूपी लक्ष्य के लिए समझे, सोचे, निश्चय करे और कार्य व्यवहार में प्रमाणित करे । इसी शुभ कामना से इस प्रबंधन को प्रस्तुत किया है ।

हर मानव अपनी पहचान प्रस्तुत करना चाहता ही है । हर मानव की पहचान समाधान समृद्धि अभय सहअस्तित्व रूप में ही पहचानना बनता है और पहचान कराना भी बनता है । इसी आधार पर पूरे मध्यस्थ दर्शन सहअस्तित्ववाद को समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व रूपी मानव लक्ष्य को

सार्थक बनाने के अर्थ में प्रस्तुत किया गया है । मेरा विश्वास है हर मानव ऐसे ही अध्ययन का स्वागत करेगा ।

यह पुस्तिका सर्वमानव शुभ के अर्थ में सम्प्रेषित है । सर्वशुभ के अर्थ में सहअस्तित्व स्वयं निरन्तर प्रभावशील है । सहअस्तित्व के वैभव में ही सम्पूर्ण मानव का शुभ समाया हुआ है । इस तथ्य का अध्ययन कराना उद्देश्य रहा है । हम स्वयं अध्ययन किये हैं । अतएव आपके सौभाग्यशाली वर्तमान के रूप में अनुभव करने के लिए सहायक होगा, ऐसा हमारा निश्चय है ।

यह प्रबंध मानव को समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी पूर्वक मानव लक्ष्य, जीवन लक्ष्य को भागीदारी रूप में प्रमाणित करने के लिए प्रेरक है । यह सार्थक हो, सर्वसुलभ हो, मानव कुल अखंड समाज, सार्वभौम व्यवस्था के रूप में सदा-सदा प्रमाणित होता रहे । यही कामना है ।

ए. नागराज

प्रणेता-मध्यस्थदर्शन

(सह-अस्तित्ववाद)

अध्याय - 1

व्यवहारात्मक जनवाद क्यों ?

- मानव भय, प्रलोभन एवं संघर्ष से मुक्ति चाहता है तथा आस्था से विश्वास का प्रमाणीकरण चाहता है ।
- मानव लाभोन्माद, भोगोन्माद से मुक्ति एवं विकल्प का स्पष्टता चाहता है ।
- मानव शासन से मुक्ति एवं व्यवस्था का धुवीकरण चाहता है ।

सुदूर विगत से मानव परम्परा भय, प्रलोभन, आस्था, संघर्ष से गुजरती हुई देखने को मिलती है । उल्लेखनीय तथ्य यह है कि सर्वाधिक मानव संघर्ष को नकारते हैं । भय को नकारते हैं । कुछ लोग सोचते हैं, प्रलोभन और आस्था से छुटकारा पाना संभव नहीं है । कुछ लोग यह भी सोचते हैं कि प्रलोभन और आस्था में ही राहत है । कुछ लोगों का सोचना है कि इससे छुटकारा पाना जरूरी तो है, परन्तु रास्ता कोई नहीं है । इन सब स्थितियों में निष्कर्ष यही निकलता है कि भय, प्रलोभन, आस्था और संघर्षों से गुजरते हुए मानव परम्परा का रास्ता; राज्य और राजनैतिक, धर्म और धर्मनैतिक, अर्थ और अर्थनैतिक, शिक्षा-संस्कार सहज वस्तु पद्धतियों का निर्धारण, निष्कर्ष, उसकी सार्वभौमता, सार्थकताओं के अर्थ में देखने को नहीं मिली । इस लम्बे समय की यात्रा में मानव परम्परा में संस्कृति-सभ्यता का, विधि-व्यवस्था का, तथा आचार-संहिता का धुरवीकरण एवं निश्चयन नहीं हो पाया । यही जनचर्चा का मुद्दा है । इन सभी मुद्दों पर सार्थकतापूर्ण निश्चयन को जनचर्चा के सूत्र रूप में प्रस्तुत करने के लिए इस ग्रन्थ का उद्घाटन हुआ है । इसमें सर्वशुभ का सारभूत अर्थ समाहित है ।

मानव परम्परा में राज्य, धर्म, अर्थ और शिक्षा-संस्कार सम्बन्धी सार्वभौम निष्कर्षों को पाने का प्रयास सदा ही रहा है ।

इसकी असफलता का एकमात्र कारण मानव को एक इकाई के रूप में देखने, समझने, अध्ययन क्रम में सजाने, व्यवहार, व्यवस्थागत कार्य-कलापों को साकार करने की दिशा में प्रयास नगण्य रहा है । हर समुदाय ने अपनी-अपनी संस्कृति, सभ्यताओं को मान्यताओं के आधार पर स्थापित कर

लिया । इसीलिए सभी समुदायों की सांस्कृतिक अस्मिता समानान्तर रूप में प्रवृत्त हुई फलस्वरूप बारंबार टकराव की मुद्राएँ-घटनाएँ देखने को मिलती रही । जबकि अधिकांश मानव वाद-विवाद, झंझटों को नहीं चाहते हैं । परिस्थितियाँ इन तमाम घटनाओं के लिए बाध्य करती रहीं । कोई एक परम्परा अपनाया हुआ राज्य और धर्म अस्मिताएँ, टकराव की स्थिति निर्मित करती रहीं । उसी के साथ-साथ अन्य समुदायों का उलझना एक बाध्यता बनती रही है । इसी उलझन से सामरिक अस्मिता सर्वाधिक रूप में पुष्ट हुई । इसी के पक्ष में कोई भयभीत होकर, कोई प्रलोभित होकर इस घटना प्रवाह में भागीदार बनने के लिए इच्छा रखते रहे, और भागीदार होते भी रहे । इसका साक्ष्य यही है कि सामरिक कार्यकलाप में भागीदारी करने के लिए बहुत सारी प्रतिभाएँ उम्मीदवार होती ही हैं तथा भागीदारी निर्वाह करती ही हैं यह सर्वजन विदित तथ्य है । जनचर्चा में भी सामरिक वार्ताओं को प्रदर्शन-प्रकाशन के माध्यम से रोमांचक विधि से प्रस्तुत किया जाता है । ताकि पीढ़ी दर पीढ़ी सामरिक प्रवृत्ति स्वीकृत होती रहे, पुष्टित होती रहे । उल्लेखनीय है कि अधिकांश मानव युद्ध न चाहते हुए भी युद्ध वार्ता-चर्चा में उत्साहित होकर भाग लेते हैं । मानव में यह एक अन्तर्विरोधी विन्यास है । इसी प्रकार अन्तर्विरोधी मुद्दे के रूप में शोषण को कोई नहीं चाहता है, फिर भी अधिकांश जनमानस व्यापार चर्चा व लाभवादी विधाओं से उत्साहित होते हुए देखने को मिलते हैं । इस बात से हर व्यक्ति सहमत होता है कि वह मानव ही है । किन्तु अपना परिचय वह किसी वर्ग या समुदायिक पहचान के साथ ही देता है । यह भी अन्तर्विरोध का जीता जागता उदाहरण है । आम जन-मानसिकता के गति, कार्य वार्तालाप के क्रम में यह भी देखने को मिलता है कि सर्व शुभ होने का कार्य राज्य, धर्म और शिक्षा में होना चाहिए । जबकि इन तीनों विधाओं में विशेष और सामान्य का प्रभेद बना ही है । (विशेष और सामान्य का तात्पर्य विद्वान-मूर्ख, ज्ञानी-अज्ञानी, बली-दुर्बली, धनी-निर्धनी के रूप में मान्यता है) । यह विशेषकर समुदायगत अन्तर्विरोध के रूप में देखने को मिलता है । जनचर्चा में यह भी सुनने को आता है कि शिक्षा-संस्कार आदि चारों परम्परा (शिक्षा संस्कार, राज्य, धर्म, व्यापार व्यवस्था) ठीक है और इस बात को स्वीकारा जाता है । परम्परा सहज विधि से हर मानव संतान किसी न किसी परिवार में समर्पित रहता ही है । जिसके फलस्वरूप परिवार के रूढ़िगत, स्वीकृत खान-पान, बोली, भाषा, रहन-सहन और व्यवहार मर्यादाओं को यथा संभव हर शिशु ग्रहण करता ही रहता है । इसके कुछ दिनों बाद किसी शिक्षण संस्था में भाई-बहनों, मित्रों-

गुरुजनों के बीच जो कुछ भी सीखने को, सुनने को, समझने को, पढ़ने को मिलता है इन सबको हर बालक अथवा हर विद्यार्थी अपनी ग्रहणशीलता सहज विधि से ग्रहण करते हैं । युवा अवस्था को पार करते-करते किसी न किसी धर्मगद्दी, धर्मप्रणाली, धार्मिक रूढ़ियों को स्वीकार लेते हैं । इसी के साथ साथ किसी न किसी देश, राष्ट्र, संविधान और भाषा, जाति चेतना सहित अपनी पहचान को सजाने के लिये हर युवा और प्रौढ़ व्यक्ति यत्न प्रयत्न करते ही हैं । इसके उपरान्त इस अवस्था तक जो कुछ भी स्वीकारा रहता है उसके प्रति अपनी निष्ठा को जोड़ते हैं । जिन-जिन मुद्दों को स्वीकारे नहीं रहे है उसमें उनकी निष्ठाएँ अर्पित नहीं हो पाती है । इसी कारणवश हर समुदाय में पीढ़ी दर पीढ़ी परिवर्तन की दिशा बनती रहती है । यही मानव परम्परा की विशेषता है । भौतिकता प्रधान दृष्टिकोण से, भोगवादी दृष्टि से मानव को भले ही जीव जानवर कहते हों, किंवा कह रहे हैं इसके बावजूद तथ्य यही है कि जानवरों में यथावत पिछली पीढ़ी के सदृश्य ही अगली पीढ़ी के कार्य-कलाप और प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं । जबकि मानव परंपरा में पीढ़ी से पीढ़ी में भिन्नताएँ व्यक्त होती ही रही हैं तथा विचार, कार्य, व्यवहार, सुविधा, संग्रह, उपभोग, बहुभोग आदि विधाओं में भी परिवर्तन होता ही आ रहा है । इसकी समीक्षा में पीढ़ी से पीढ़ी अधिकाधिक सुविधा संग्रह में प्रवर्तित होना देखा गया है । कट्टरवादिता अंधविश्वास और अन्य अर्थविहीन रूढ़ियों के प्रति पुनर्विचार करने के लिए प्रवृत्तियाँ अधिकाधिक लोगों में उदय होती हुई देखने को मिलती हैं । इन्हीं तथ्यों से पता चलता है, कि मानव जीव जानवरों से भिन्न है । भिन्नता का मूल स्रोत सर्व मानव में प्रकाशित कल्पनाशीलता-कर्म स्वतंत्रता ही है । विगत घटनाओं की स्मृतियों श्रुतियों के आधार पर हर व्यक्ति अपनी कल्पनाओं को दौड़ाने में समर्थ है ही, इसी क्रम में मानव हर घटना के साथ उचित अनुचित को समझने, औचित्यता के प्रति सकारात्मक रवैया अपनाने, अनुचित के साथ नकारात्मक रवैया अपनाने के लिए अपनी कर्म स्वतंत्रता का प्रयोग करता ही है । यह सर्व मानव में सर्वविदित तथ्य है । इस धरती परआदिकालीन मानव का भिन्न जलवायु में शरीर यात्रा आरंभ होना, सुस्पष्ट हो चुका है । विभिन्न जलवायु में पले विभिन्न रंग रूप के होने के कारण मानव से मानव की रूप रंग की विषमता, उसी के साथ भाषा की विषमता के संयोग से विरोधों का प्रदर्शन, असंख्य हिंसाओं के रूप में साक्षित है । प्राकृतिक भय, पशुभय, मानव में निहित अमानवीयता (हिंसा, शोषण, द्रोह, विद्रोह,

प्रवृत्ति) का भय अर्थात् अथ से इति तक भय के विभिन्न स्वरूपों को परिलक्षित किया गया है और हर व्यक्ति इन्हे परिलक्षित कर सकता है ।

भिन्न-भिन्न मानव कुल और परम्पराओं का विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों में आरंभ होना एक नियति सहज विधि है । इसी आधार पर ही भिन्न-भिन्न मानसिकता का होना स्वयं साक्षित है । इसे हर व्यक्ति अपनी संतुष्टि के लिए अथवा निश्चयन के लिए सर्वोक्षित कर सकता है । इसी मानसिकता के क्रम में, भय पीड़ित अथवा प्रताड़ित मानसिकता ही सर्वप्रथम व्यक्त होने, करने, कराने का अवसर और आवश्यकता समीचीन रही है । इसका साक्ष्य आज भी हर भाषा में भय संबंधी कथन, कथा, परिकथा, तथा चर्चाओं के रूप में प्रकाशित होता हुआ दिखाई पड़ता है । साथ ही साथ अभयता की अपेक्षा हर पीढ़ी में रहती आयी है और हर पीढ़ी अभयता से परिपूर्ण होने में असमर्थ रहते ही आयी है । आदि मानव में एवं अत्याधुनिक मानव में इतना ही परिवर्तन दिखाई पड़ता है कि प्राकृतिक भय और पशुभय (कूर जानवरों का भय) का प्रभाव कम हो गया । जैसे जैसे ये भय कम हुए मानव में निहित अमानवीयता का भय पराकाष्ठा की ओर होना प्रकाशित हुआ । यहाँ उल्लेखनीय मुद्दा यही है कि युद्ध जैसे परम दुष्ट कृत्यों को विकास का आधार मान लेना, मनवा देना, अत्याधुनिक युग का दबाव और पीड़ा है ।

कूरता, हिंसा और युद्ध मानसिकता :-

आदि मानव में भी घटनाओं के साथ तदाकार होना, कम से कम अनुकरण में प्रवर्तित होना, कल्पनाशीलता एवं कर्म स्वतंत्रता के योगफल की महिमा रही है । मानव परंपरा के आरंभिक काल में सर्वाधिक भौगोलिक परिस्थितियाँ इस धरती पर प्रकट होने एवं वनस्पति मानव जाति के विकास के अनुकूल रहना आज भी जनमानस में स्वीकृत होता है क्योंकि शनैः शनैः वन का शोषण व क्षरण मानव के हाथों होना आँकलित होता है । ऐसी वनस्थली में आदि मानव के सम्मुख वन, वन्य-पशु, प्राणी, हवा, जल, सूर्य प्रकाश पृथ्वी ही प्रथम नैसर्गिकता के रूप में समीचीन रहते रहे हैं । इन सभी ने मानव पर प्रभाव डाला । इनमें से हवा, जल, प्रकाश धरती की स्वीकृति और जंगल, वन्य प्राणी तथा उनसे संपन्न होने वाले क्रिया-कलाप की अस्वीकृति रही, फलस्वरूप वन्य प्राणियों के साथ हिंसक रवैया और वनस्थली को मैदान बनाने का रवैया मानव ने अपनाया । इसी क्रम में परिवार और ग्राम कबीलों में परिस्थितिजन्य मान्यता, रूढ़ियों को अपनी-अपनी भाषा विधि से अग्रिम पीढ़ियों में

संप्रेषित करने का कार्य भी होता ही रहा । आदिकाल में भय के अलावा भाषा में वर्णन करने की कोई वस्तु ही नहीं रही । इसके अलावा कोई चीज रही है - वह है क्रूर वन्य प्राणियों के साथ जूझकर मारने के उपरान्त उत्सव मनता ही रहा । उत्सव से आरंभ हुआ अलंकार और श्रृंगार वस्तुओं का उत्पादन और उपभोग । यह आज अत्याधुनिक युग में भी स्वीकृत होता ही है ।

उक्त क्रम में स्वाभाविक रूप में हर परिवार, ग्राम व कबीले के साथ-साथ क्रम से जंगल युग के अनन्तर पाषाणयुग, पाषाणयुग के अनन्तर धातुयुग, धातुयुग के अनन्तर स्वचालित यन्त्रयुग, और विद्युत युग का उदय हुआ । पहले से ही वन को काट कर मैदान बनाने की कार्य विधि को मानव अपना चुका था । क्रम से उक्त युगों के उदय के साथ-साथ खनिजों का दोहन, प्रौद्योगिकी प्रवृत्ति, संग्रह सुविधा की आवश्यकता, भोग, अतिभोग, बहुभोग की दिशाओं में प्रसवित, प्रदर्शित हुई । उपरोक्त क्रम से सम्पूर्ण राज्य मानस में युद्ध और युद्धकला हर देश या राष्ट्र के अहमता और सम्मान का कारण बना । राज्य और धर्म कहलाने वाले सदा-सदा ही एक दूसरे के आगे-पीछे चलते रहे । इसी के साथ-साथ आस्थावाद का समावेश होता ही रहा ।

आज की जनचर्चा में इन्हीं मुद्दों का उद्घाटन है । प्रधानतः सामान्य जनमानस सुविधा-संग्रह के मुद्दे पर रोमांचित होता हुआ, उत्साहित होता हुआ देखने को मिलता है । सुविधा-संग्रह विधा में जिनकी कुछ पहुंच बन चुकी है, ऐसे लोगों में भोग, अतिभोग, बहुभोग रोमांचिकता का मुद्दा बना हुआ देखने को मिलता है । राजनेताओं में भी संग्रह सुविधा, भोग, अतिभोग की मानसिकता देश, राष्ट्र की अस्मिता नाम से युद्ध, शोषण और द्रोह के रूप में देखने को मिलती है । इस मुद्दे पर भी रोमांचित होने करने के लिए प्रयत्न किये जाते हैं ।

आज की स्थिति का निरीक्षण, परीक्षण करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि राज्य, धर्म, व्यापार में भागीदार सभी मानव सुविधा-संग्रह को छोड़कर दूसरा कुछ कर नहीं पा रहे हैं । इसलिए उक्त जगहों में भागीदारी करते हुए मानव ही अधिक योग्य माने जा रहे हैं । इन सबकी गम्यस्थली उल्लेखित बिंदु ही है । इसलिए अपेक्षा, कथन और कार्य में अन्तर्विरोध देखने को मिलता है । जैसे हर राजनेता मेहनत और ईमानदारी के उपदेश सार्वजनिक सभाओं में देते हैं । किन्तु साथ ही सभी विधि से अपने सुविधा-संग्रह को बनाने, बढ़ाने में ही लगे रहते हैं । धर्म नेताओं के सम्पूर्ण उपदेश का सार त्याग, वैराग्य, परोपकार के लिए प्रवर्तित होता है । इस मुद्दे पर भी उल्लेखनीय तथ्य उतना

ही है जितना राजपुरुषों के संबंध में ऊपर कहा गया है । तीसरी गद्दी, व्यापार गद्दी है । व्यापार घोषित रूप में ही संग्रह-सुविधा में लगा रहता है, जबकि व्यापार का मूल प्रयोजन लोक-सुविधा, लोकोपकार है । इस प्रकार से कथनी-करनी की दूरियाँ इन तीनों गद्दीयों में देखने को मिलती हैं । ये सब जन चर्चा का आधार बिंदु है । चौथी गद्दी, शिक्षा गद्दी के रूप में पहचानी जाती है । आज तक शिक्षा में उन्नयन (विकास) के नाम से व्यवसायिक शिक्षा के रूप में ही शिक्षा का ढाँचा-खाँचा बना हुआ है । शिक्षा रूपी व्यवसाय भी व्यापार के रूप में ही अथवा व्यापार के सदृश ही सुविधा-संग्रह की ओर प्रवर्तित देखने को मिल रहा है । इन सब को देखकर कृषि में निष्ठा रखने वाले, परिश्रम में विश्वास रखने वालों में सुविधा-संग्रह की ओर प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है । क्योंकि चारों गद्दीयों में आसीन उनके साथी-सहयोगियों का जलवा और रूतबा ही इनके लिए आदर्श रहा है । सर्वाधिक लोग आज भी कृषक और श्रमजीवी हैं तथा यही लोग, लोक सामान्य और आम जनता के नाम से जाने जाते हैं ।

जनचर्चा में मध्यम वर्ग और मध्यम वर्ग का अनुसरण करने वाले सभी लोग समाहित रहते हैं । आज की स्थिति में जनचर्चा के सर्वाधिक मुद्दे सुविधा, संग्रह, भोग पर आधारित होते हैं । संपूर्ण साहित्य, वाङ्मय, परिकथा, कथाओं व संचार माध्यम का वाचन-श्रवण भी इन्हीं अर्थों में सुनने में आता है । वर्तमान के आदर्शों के आधार पर ही जनचर्चा होना देखा गया है । इसी के साथ तमाम अपराधिक घटनाएँ और बर्बरताएँ जनचर्चा के माध्यम से सुनने में आती हैं । उल्लेखनीय है कि उक्त सभी बातों को जनमानस सामान्य कार्यकलाप के रूप में स्वीकार कर रहा है । किन्तु अपराध, लूट-खसोट, छीना-झपटी जैसे कार्यों को स्वयं के साथ घटित होते हुए स्वीकार नहीं पाता है । घटित हुई घटना दोनों प्रकार से जनमानस चर्चा की वस्तु बनाती है । जैसे किसी देश-देश के साथ युद्ध होना या युद्ध के लिए प्रस्तुत होने वाले वक्तव्य, युद्ध का अंतिम परिणाम जिसमें किसी की हार जीत होती है, को कुछ लोग उचित ठहराते हैं, कुछ लोग अनुचित ठहराते हैं । उचित अनुचित ठहराते समय यही लोकचर्चा में रहता है कि बड़ा अत्याचार किया था इसीलिए राज्य का पतन होना जरूरी था । दूसरे तरीके से कभी-कभी यह भी समीक्षा सुनने में आती है कि जो पराजित हुए वे मूर्ख थे इसीलिए हार गये । इसी प्रकार जीते हुए देश के संबंध में भी उचित-अनुचित के रूप में जनमानस चर्चा करते ही हैं ।

घटनाक्रम में किसी परिवार के साथ भी उचित अनुचित के रूप में इसी प्रकार गाँव, मुहल्ला में भी जनचर्चा होते हुए देखने को मिलती है । यह तो सर्वविदित है, कि सम्पूर्ण प्रचार तंत्र, अपराध और श्रृंगारिकता के अतिरिक्त और कोई ज्ञान वर्धन करा नहीं पा रहे है । शिक्षा के नाम से जो कुछ भी प्रचार करते हैं, वे सब न्यून प्रभावी रहते हैं, अपराधिक और श्रृंगारिक प्रभाव के सामने नगण्य हो जाते हैं ।

जनचर्चा शिक्षा सहज मानसिकता, समुदाय परंपरा सहज मानसिकता और प्रचार माध्यमों की मानसिकताएँ प्रधान रूप में हर मानव पर प्रतिबिम्बित होती ही हैं । हर वर्तमान में इसका निरीक्षण, परीक्षण किया जा सकता है । मानवकुल अनेक समुदायों के रूप में दृष्टव्य है । समुदायों के बनने के मूल कारणों की ओर पहले ध्यान दिया जा चुका है । सभीसमुदायों में संघर्ष और भय अस्वीकृत होते हुए भी इसकी चर्चा बार-बार देखने को मिलती है । इसके परिशीलन में यही पाया गया कि स्वीकृत होने वाले तथ्यों को चर्चास्पद बनाने में परम्पराएँ असमर्थ रही हैं । जैसे हर मानव विश्वास पूर्वक जीना चाहता है । विश्वासपूर्वक जीने की चर्चा और चर्चा की मूल वस्तु उसकी प्रयोजनकारिता को परम्परा कोई दिशा नहीं दे पायी । यह व्यवहारिक होने के कारण व्यवहारात्मक चर्चा की अति आवश्यकता है । प्रकारान्तर से हर मानव की मानव के साथ और नैसर्गिकता के साथ जीने की स्थिति की कम से कम शरीर यात्रा पर्यन्त प्रभावित करने की स्थिति समीचीन रहती ही है । जबकि सभी चर्चाएँ अलगाव-विलगाव की ओर ले जाती हुई देखी जाती हैं । अभी तक की चर्चा की निश्चित विभाजन रेखा भोगवाद और त्यागवाद है । ये दोनों व्यक्तिवादी होने के कारण अलगाव-विलगाव होने की मानसिकता और चर्चा मानव कुल में व्याप्त है । ऐसी व्यक्तिवादी अहमता को और कठोर बनाने के क्रम में अनेकानेक तरीके अपनाए गए ऐसे तरीकों में माध्यम अतिमहत्वपूर्ण रहा ।

माध्यम परीकथा के रूप में प्रारंभ होकर वर्तमान स्थिति में दूर-गमन, दूर-श्रवण, पत्र-पुस्तिका, दूर-दर्शन, स्मारिकाएँ उपन्यास आदि नामों से जाने जाते हैं । यह सब सार संक्षेप में अपराध और श्रृंगारिकता का प्रचार ही है । इन प्रचारों के बौने आधार पर यह मानसिकता के लोग शिक्षा के लिए प्रस्तुत होने के पक्ष में दलीलें मानव के वार्तालाप में देखने को मिलती है । उसी क्रम में जितने भी दृष्टांत देखने को मिले हैं । उनके अनुसार अपराधिक और श्रृंगारिक प्रयासों में प्रवृत्ति देखने को मिली । इसका मूल कारण सकारात्मक अथवा व्यवहारात्मक चर्चा की वस्तु से हम वंचित व माध्यमों,

शिक्षा, शासन व्यवस्था के दावेदार कहलाने वाले स्वयं रिक्त रहे हैं । इन सबके दिशाविहीन होने के फलस्वरूप यदि किसी दिशा की पहचान होती है तो केवल सुविधा संग्रह, भोग, अतिभोग, बहुभोग की ओर ही होती है । अन्यथा इससे असफल होने की स्थिति में विरक्ति-भक्ति की हो पाती है । इन तमाम प्रकार की नकारात्मक रोमांचक चर्चाओं के साथ-साथ केवल व्यक्तिवादी मानसिकता ही सघन होती हुई देखी गयी । दूसरी भाषा में व्यक्तिवादी अहमता बढ़ती गयी ।

भय-भ्रान्ति से मुक्ति को चाहना और समाधान, समृद्धि सम्पन्न रहना, ये सब आकांक्षा के रूप में देखने को मिलता है । इसी के साथ-साथ उपकारी होने की आकांक्षा भी किसी न किसी अंश में होती है । सहयोगिता प्रवृत्ति शिशुकाल से ही देखने को मिलती है । यही वृद्धावस्था में भी किसी अंश में जीवित पायी जाती है । ऐसी सहयोगितावादी प्रवृत्ति का आशिक रूप ही देश कालीय विधि से प्रायोजित होता हुआ देखने को मिलता है । ऐसी उपकार विधाओं का विविध राज्य और धर्म परम्परा में होना, प्रवृत्त रहना पाया जाता है । इसी प्रकार एक समुदाय, दूसरे समुदाय; एक परिवार, दूसरे परिवार; एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के लिये उपकारी होने की बातें चर्चाओं में सुनने को मिलती हैं । कुछ घटनाएँ भी देखने को मिलती हैं । इसका परिणाम किसी का किसी के साथ किया हुआ उपकार किसी दूसरे के लिए संकट के रूप में भी देखने को मिला । जैसे एक देश दूसरे देश के लिए सामरिक तंत्र वस्तुओं से उपकार करने की स्थिति में अन्य देश संकट की गुहार मचाता है । एक धर्म कहलाने वाले परम्पराओं द्वारा अपनी-अपनी जाति को बढ़ावा देने की कार्यवाहियों और मानसिकताओं से अपनी प्रसार प्रवृत्ति को अपनाने की स्थिति में दूसरा समुदाय संकटग्रस्त होता है । एक समुदाय परिवार, व्यक्ति अथवा देश शोषण पूर्वक सर्वाधिक धनार्जन कर लेता है, उस स्थिति में वे सब गुहार मचाते हैं जो असफल रहते हैं । यही आज की बीसवीं शताब्दी के दसवें दशक तक गंभीर चर्चाओं की वस्तु रही है । इस प्रकार वर्तमान में जनचर्चाओं का मुद्दा अपराध, श्रृंगारिकता, गलती, राज्य, धर्म, अर्थ, संबंधी जटिलताएँ ही हैं ।

उल्लेखनीय तथ्य यह है कि सभी राज्य संविधान (लिखित-अलिखित) गलती, अपराध और युद्ध को रोकने की मानसिकता का ताना बाना है । इसके विपरीत जनचर्चाओं में इन्हीं मुद्दों का सर्वाधिक प्रभाव होना पाया जाता है । जनचर्चा प्रवृत्ति के लिए अभी तक जितनी भी किताबें छपी हैं उनमें सर्वाधिक भाग इन्हीं प्रेरणाओं से अनुप्राणित होना पाया जाता है । इसी के साथ श्रृंगारिकता, भोग,

बहुभोग, अतिभोग प्रवृत्तियाँ इनमें समायी रहती हैं । इसी प्रकार हमें देखने में पता लगता है कि जनसंघर्ष के लिए गलती, अपराध, युद्ध, शोषण, भोगवादी कार्य-कलाप ही मुख्य कारण है । मानव संघर्ष से ग्रस्त होने की स्थिति में राहत पाने के लिए श्रृंगारिकता, भोग, अतिभोगवादी मानसिकता का प्रयोग करता हुआ देखा जा रहा है ।

प्रचलित रूढ़ी, मान्यता, कल्पना, आकांक्षा जो ऊपर स्पष्ट किये गये हैं, उनके आधार पर जनचर्चा और जनाकांक्षा का निर्धारण इन्हीं के पक्ष विपक्ष में होना बनता है । इन सभी चर्चाओं का सार यही है, जीना है, सुखी होना है, भय से मुक्त होना है, विपन्नता और प्रताड़नाओं से मुक्त होना है साथ ही साथ समृद्ध होना है । यही सब मानसिकता कल्पना के रूप में पहचान आने वाली आकांक्षाओं का हर मानव में परस्पर वार्तालाप, विचारणा, परिचर्चा, संवाद-वादों द्वारा किसी न किसी मान्यता के रूप में प्रतिबद्ध होना, उसी के आधार पर प्रवर्तनशील होना देखा गया है । वाद प्रवृत्ति हर व्यक्ति में काफी लंबी चौड़ी अर्थात् विशाल होती है । योजना प्रवृत्तियाँ, वाद प्रवृत्ति से कम क्षेत्र में होना देखा गया है । और योजना प्रवृत्ति से कार्य प्रवृत्ति और छोटी होती हुई देखने को मिलती है । इस सर्वेक्षण को हर व्यक्ति सर्वेक्षित कर निश्चय कर पाता है । कार्य प्रवृत्ति के अनन्तर फल प्रवृत्ति का होना पाया जाता है । फल परिणामों का आकलन हर समुदाय परंपराओं में प्रकारांतरसे समावेशित है । विगत शताब्दी के अंतिम दशक तक उपलब्ध फल परिणामों के आधार पर मानव अपने “त्व सहित व्यवस्था” में जीने में असमर्थ रहा है । दूसरी मानवकृत कार्य परिणाम का स्वरूप नैसर्गिक-प्राकृतिक संतुलन से असंतुलन की ओर हुआ है । विगत शताब्दी के अंतिम दशक तक मानव अपनी समझदारी एवं उसकी सम्पूर्णता को परम्परा के रूप में पाने में विफल रहा है । अभी तक यह भी देखने को मिला है कि मानव अनेक परम्पराओं को स्वीकारता ही आया है । साथ ही परस्पर परम्पराओं की दूरी यथावत बनी ही है । ये दूरियाँ सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक प्रभेदों के आधार पर देखने को मिल रही हैं । उक्त चारो मुद्दों में कहीं भी सार्वभौमता का सूत्र (जिसको सभी अपना सके ऐसा सूत्र) नहीं मिला । यह पहली विफलता की गवाही है । युद्ध सदा ही राष्ट्र-राष्ट्र की परस्परता में मंडरा रहा है । आर्थिक विषमताएँ, साँस्कृतिक असमानताएँ सदा-सदा से मानव कुल को प्रताड़ित कर ही रही है । इस बीच साम्यवादी और पूँजीवादी विचारों को चर्चा के रूप में मानव कुल में प्रवेश कराया गया है । इन दोनों की अन्तिम मानसिकता बिन्दू एक ही हुआ - वह है

भोगवाद । पूँजीवाद में ज्यादा कम का प्रकाशन होना देखा गया है । इसी को मुद्दा बना कर आर्थिक रूप में समानता की परिकल्पना दी गयी जिसे साम्यवाद कहा गया । अधिकतर जनमानस में साम्यवाद स्वागतीय होते हुए जिन देशों में साम्यवादी प्रथा शासन-प्रशासन के रूप में ढाली गई वहाँ के सभी लोग अथवा सर्वाधिक लोगों ने भोगवाद व पूँजीवाद को ही पसंद किया । इसे भली प्रकार से देखा गया है कि पूँजीवाद के समान ही लाभोन्माद से साम्यवाद भी पीछा नहीं छुटा पाया । पूँजी के आधार पर जो परिकल्पनाओं को एकत्रित किये वह एक प्रबंध, के रूप में मानव के हाथों अर्पित करने के उपरान्त भी उन ही प्रबंधों में इस सिद्धान्त के नाम से प्रबंध का विरोधी प्रबंध, विरोधी प्रबंधो का समन्वय प्रबंध एवं पुनः प्रबंध का जिक्र किया । इससे प्रबंध विहीन मानसिकता जनमानस के हाथ लगी । इसी आधार पर विचार और कार्यक्रम की निश्चयता, स्थिरता लाखों पूँजीवादी आदमियों को कत्ल करने के उपरान्त भी हाथ नहीं लगी । इसी के साथ भौतिकवादी विचार के साथ यह भी एक भ्रम पीछे पड़ा ही रहा कि “विकास अन्तविहीन होता” है । इन दोनों कारणों से भौतिकवादी प्रबंधों के आधार पर व्यवस्था का निश्चयन होना संभव नहीं हो पाया । जबकि भौतिकवादी प्रबंध के रचयिता और पंडितों को पुरस्कृत एवं प्रोत्साहित किया गया । यह भी हमारी देखी हुई घटनाएँ हैं । इस विधि से साम्यवादी विचार का अन्त सामान्य जनमानस के अनुसार भोगवाद में परिणत हो गया, और जहाँ तक शासन प्रशासन के तौर तरीके का मुद्दा है, अभी तक पूँजीवादी देश जितना भ्रमित रहा है उतना ही साम्यवादी देश भी उलझा रहा है, भ्रमित रहा है । अभी की स्थिति में पूँजीवादी देशों में सामरिक तंत्र और मात्रा दोनों बढ़ा हुआ देखने को मिलता है । इसी के साथ-साथ साम्यवादी देश कहलाने वाले इस दशक के अन्त तक जो भी बचे हुए हैं, वे भी अपने सामरिक तंत्र और मात्रा में पर्याप्त समर्थ हैं; ऐसा बता रहे हैं ।

जो साम्यवादी देश नहीं हैं, धर्म निरपेक्ष तंत्रवादी और लोककल्याण तंत्रवादी, जातिवादी, सम्प्रदायवादी भेदों में गण्य हैं । उल्लेखनीय तथ्य यही है इन किसी भी वाद परस्त संविधानों में सार्वभौम आचार संहिता का सूत्र और व्याख्या देखने को नहीं मिली । इसके अनंतर कई राष्ट्रों के गठन से गठित संस्थायेँ भी बनी हैं । उन में से एक गुट निरपेक्ष है, एक कामनवेल्थ तथा एक राष्ट्र संघ है । इसी के साथ और भी कई नामों से कुछ कुछ देश मिलकर संगठनों को बनाए रखे हैं । इन

सभी संगठनों में परस्पर मानवीयता पूर्ण व्यवस्था सहज आचार संहिता का सूत्र और व्याख्या नहीं हो पायी ।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की अनुशंसा के अनुसार शिक्षा में सार्वभौमता को पाने की विधा में कई उप-संस्थाओं को शामिल किये हैं । ऐसी चार-छः संस्थाएँ विभिन्न देशों में काम कर रही हैं । अभी तक इनसे कोई सार्वभौम मानसिकता सहज शिक्षा-प्रणाली-नीति और कार्य योजना स्थापित नहीं हो पायी । ये सभी संस्थाएँ जिनके पास अधिक पैसा है, पैसा बाँट देना ही अपना कार्यक्रम मान लिए हैं । इसी क्रम में अधिकांश देश, सामान्य लोगों के पास पैसे पहुंचने पर, सब विकसित हो जायेंगे ऐसा सोचा करते हैं, कार्य भी वैसा करते हैं । यह भी इस दशक में देखने को मिल रहा है कि सर्वाधिक पैसा जिसके पास है वही ज्यादा से ज्यादा शोषण करता है । जहाँ ज्यादा शोषण होता है - वहीं ज्यादा पैसा एकत्रित होता है यह देखा गया है । इतना ही नहीं व्यापार और शोषण में जो पारंगत हैं ऐसे लोग बड़े-बड़े कोषालयों की कार्यशैली में धूल झोंककर स्वयं लाभ पैदा करते हुए देखे गये हैं ।

जहाँ तक गणतंत्र-प्रजातंत्र-समाजतंत्र किसी भी नाम से जनमत के आधार पर जो व्यक्ति गद्दी में बैठ जाता है उन सब का कमोवेशी कार्यकलाप का तरीका मूलतः एक सा होना बनता है अर्थात् विशेष हो जाता है । सभी राज्य शासन-प्रशासन के लिये संविधान बना ही रहता है । ऐसे सभी संविधानों में तीन मुद्दे प्रधान हैं । गलती को गलती से रोकना, अपराध को अपराध से रोकना और युद्ध को युद्ध से रोकना । यह प्रायः सभी राजशासन की गति-प्रवृत्ति और दिशा है । पर्याप्त जन सुविधा, व्यक्ति विकास, समानता का अधिकांश लोग आश्वासन देते हुए जनमत प्राप्त करते हैं, गद्दी पर बैठ जाते हैं । जबकि संविधान के अनुसार ऊपर कही हुई बुलंद प्रवृत्तियाँ, अनुशासनों की आवाज को दबा देती हैं । उसी के साथ-साथ वोट और नोट का गठबंधन, जनमत अर्जन समय से ही पीछे पड़ा रहता है । सर्वोच्च सत्ताधारी ही सत्ता का आबंटन करने में सक्षम होना संविधान मान्य रहता ही है । आबंटन के उपरान्त कुछ लोगों के लिये जिनको आबंटन में सत्ता हाथ लग गई है, उनमें और उनसे सम्मत व्यक्ति में क्षणिक सन्तुष्टि देखने को मिलती है ।

जिनको सत्ता में भागीदारी की अपेक्षा रहते हुए सत्ता में भागीदारी नहीं मिली वे एवं उनके समर्थक असन्तुष्ट दिखते हैं । इस प्रकार संपूर्ण देशों की गणतंत्र प्रणालियाँ वोट-नोट-बँटवारा-सन्तुष्टि-असंतुष्टि के चक्कर में फँसे हुए दिखाई पड़ते हैं । इस मुद्दे पर जनचर्चा यही स्वीकारने के जगह में

आयी, सबको स्वीकार्य घटना हो ही नहीं सकती । यदि होती है तो वह ईश्वराधीन है । संवाद करने पर सभी व्यक्ति संतुष्ट हो नहीं सकते - ऐसा निष्कर्ष रहा । संतुष्टि सबको चाहिये कि नहीं चाहिये, पूछने पर सबको संतुष्टि चाहिये यही उद्गार निकलता है । ऐसा भी परीक्षण इसी तथ्य का समर्थनकारी है कि मानव अपनी मानसिकता के मूल में सर्वशुभ को स्वीकारा ही है ।

धर्म निरपेक्षता को कुछ संविधान में स्वीकारे हुए हैं, किन्तु संविधान में धर्म निरपेक्षता का आचरण (मूल्य, चरित्र, नैतिकता) का सूत्र व्याख्या अध्ययनगम्य व लोकगम्य नहीं हुआ है । जहाँ तक जनकल्याणकारी नीति को जो देश अपनाया है वह अपने में ज्यादा से ज्यादा पैसा और सुविधा सबको मिलने की मानसिकता है और प्रतिज्ञा है । किसी भी विधि से प्राप्त संग्रह-सुविधा का तृप्ति बिन्दु न होने के कारण निरंतर ही अग्रिम सुविधा-संग्रह की प्यास जनमानस में क्रमशः बढ़ती हुआ देखने को मिल रही है । इस विधि से जनकल्याणकारी विचारों को लेकर सामरिक तंत्र से लैस गतिविधि अन्य देश जो सामरिक तंत्रणा से उतना लैस नहीं है, ऐसे देशों को अपना स्रोत बनाने में अर्थात् अपने देशवासियों के आवश्यकताओं को पूरा करने के स्रोत के रूप में अपने को तैनात करने में व्यस्त हैं । इसी के साथ उन ही देशों के हाथों में अर्थतंत्र का भी नियंत्रण बन चुकी है । विज्ञानवादी अर्थतंत्र के अनुसार अथवा लाभोन्मादी अर्थतंत्र के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष जिन-जिन देशों में अधिक हो गया है वे सब शोषण के योग्य हो चुके हैं । बाकी देश शोषित होने के योग्य हो चुके हैं । इस विधि से प्रचलित लाभोन्मादी अर्थतंत्र के अनुसार इसका समाधान बिन्दु मिलता नहीं है ।

तटस्थ देशों का मानना है किसी भी खेमे में कूटनीति और समरनीति को समाहित न किया जाये । तो किया क्या जाये ? इसका उत्तर स्पष्ट नहीं है । इस विधि से स्पष्ट नहीं है कि तटस्थ चरित्र क्या चीज है ? इसका उत्तर मिलता नहीं है । यह उस समय उद्गमित हुई जब साम्यवादी और पूंजीवादी कटु विरोधी रूप में कार्य करते रहे । प्रायः इस तटस्थता के पक्ष में वे सभी देश हैं जो सामरिक तंत्र और मात्रा में अपने को कमजोर समझते हैं अथवा कमजोर हैं । व्यवहारात्मक विचारों से इसका मूल्यांकन होना एक आवश्यकता रही ।

सर्वाधिक देश जिसकी भागीदारी को स्वीकारें है वह राष्ट्रसंघ अभी तक किसी सार्वभौम संविधान, सार्वभौम शिक्षा, सार्वभौम जनमानसिकता को पाने की विधा दृढ़ने की कोशिश में हैं । ऐसा उन संस्थाओं के उद्गार से पता लगता है । युद्ध विभषिका को रोकने के पक्ष में अपनी सम्मति को व्यक्त

किया रहता है । इन मनोनीतियों के अनुसार इस संस्था में सर्वोच्च प्रतिभाएँ काम करते रहते हैं । राष्ट्रसंघ के मानसिकता के अनुसार भी विकास और बेहतरीन जिन्दगी की सम्मति अभी तक संग्रह-सुविधा युद्ध सामरिक तंत्र में अग्रगामियता, व्यापार में सर्वाधिक फैला हुआ देशो को विकसित मानने के पक्ष में दिखाई पड़ती है । जबकि संग्रह-सुविधा अभी तक जिस चोटी में पहुंच चुकी है उतना संग्रह-सुविधा सबको मिलने की विधि इस धरती पर नहीं हो सकती । क्योंकि संग्रह-सुविधा से लैस व्यक्ति हर परिवार संस्था को मिलने का प्रावधान नहीं है । इसके लिए धरती छोटी दिखाई पड़ती है । थोड़े लोग इस धरती पर रहने से सबको सुविधा-संग्रह मिल जायेगा विभिन्न संस्थाओं ने ऐसा भी सोचा । इसी आधार पर विभिन्न राज्य संस्था, समाजसेवी संस्था, संयुक्त राष्ट्र संघ और भी जितने छोटे बड़े संगठन है वे सब इस बात को दोहराते हैं कि जनसंख्या नियंत्रण होना चाहिये ।

यह भी एक नजीर इसी दशक में देखने को मिला कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के आवाहन के अनुसार एक पृथ्वी सम्मेलन किया गया जिसमें ऊपर कहे गये ढाँचा-खाँचा में आने वाले देश अपने को विकसित एवं अन्य देशो को विकासशील अथवा अविकसित घोषित किये । इस पर राष्ट्रसंघ अपनी सहमति व्यक्त किया । साथ ही यह भी बताए कि जो अपने को विकसित देश घोषित किये हैं उनके मार्गदर्शन के अनुसार अन्य देश चलना चाहिये क्योंकि उक्त दोनो कोटि के देश विकसित होना जरूरी है । विकास का दावा जितने देश भी किये है उसमें अधिकांश भाग अत्याधुनिक सामरिक तंत्र और यंत्र ही है । इसका दूसरा भाग संग्रह-सुविधा, भोग, अतिभोग बहुभोग ही है । अथवा इसी ओर है । संग्रह, सुविधा भोग के आधार पर जिन्हें विकसित देश बता रहे है उसकी सार्वभौमता के लिए हर व्यक्ति-परिवार उतना सुविधा-संग्रह और खर्च करने की आवश्यकता इच्छा करता ही है जबकि सबको सुविधा संग्रह समान मात्रा से मिल नहीं सकती । इस विधि से विकास तंत्रणा कहाँ पहुँचा ? इसका उत्तर कौन देगा ? कौन जिम्मेदार है ? राष्ट्रसंघ जिम्मेदार है ? या विकसित देश जिम्मेदार है ? यही दो तबके अपने को सर्वाधिक-अधिकाधिक विकसित होने का सत्यापन प्रस्तुत किये है । जबकि विकास का मापदंड संग्रह-सुविधा के आधार पर अथवा भक्ति विरक्ति के आधार पर सर्वसम्मत नहीं हो पाते हैं ।

मध्यस्थ दर्शन (सहअस्तित्ववाद)

प्रणेता एवं लेखक: अग्रहार नागराज

सम्पूर्ण वांडमय डाउनलोड:

www.madhyasth.org

www.bit.ly/dpsroot